65 - No. 1

[ओइम तत्सत्]

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

(All rights reserved)

Shri Ram Chandra Mission

Publication Department

SHAHJAHANPUR, U. P. (India)

Annual Subscription Rs. 4.00 Per Copy Rs. 1.25

1965. No 1

❀ सम्पादक मंडल ❀

श्री काशीराम अग्रवाल (शाहजहाँपुर) हिन्दी विभाग

श्री सूर्य प्रसाद श्रीवास्तव (लखीमपुर-खीरी) अंग्रेजी विभाग

—: विषय-सूची :—

	हिन्दी	लेखक	पृष्ठ संख्या
१	बंधन और मुक्ति	—समर्थ गुरु महात्मा राम चन्द्र जी फतेहगढ	१
२	ओइम् तत् सत्	—श्री विष्णु सहाय श्रीवास्तवा	६
३	राज़ो हक़	—श्री प्रमोद शंकर 'अमर'	११
४	आली री सखी उत्सव को दिन आयोरी	—कु० शशि टडन	१२
५	मन और हमारा स्वभाव	—श्रीमती सुषमा सक्सेना	१६
६	साधना	—श्री काशी राम अग्रवाल	१८

ENGLISH SECTION

Speech	—Sri Ram Chandraji, President	23
Salutations to beloved Babuji	—by Sri Raghavenandra Rao	29
Man's Problem	—by Sri Ishwar Sahai	33
Man's Quest for Peace	—by Sri Vishun Sahai Srivastava M. A.	40

ॐ

सहज मार्ग

उत्तिष्ठ जागृत प्राप्य बरान्निबोधत।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो !

वर्ष ६ / अंक १ — संवत् २०२२ विक्रमी / Year 1965 — Year 9 / No. 1

प्रार्थना

हे नाथ ! तूही मनुष्य जीवन का ध्येय है,
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक है,
तूही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है,
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

: ० :

O, Master !
Thou art the real goal of Human life,
We are yet but slaves of wishes,
Putting bar to our advancement.
Thou art the only God and Power
To bring me upto that stage.

सम्पादक की बात--

शान्ति आत्मा की एक सहज प्यास है, किन्तु यह सदैव अनबुझी रहती है, क्योंकि हमारे पहुँच (approach) के तरीके गलत होते हैं। बजाय वास्तविक समाधान खोज निकालने के हम केवल इधर-उधर भटकते रहते हैं और अपने को न समाप्त होने वाले अनिश्चय तथा अशान्ति के जलावर्तों में आबद्ध (entrapped) पाते हैं। संसार के वर्तमान ढांचे (set up) ने अग्नि में ईंधन का कार्य किया है। हमारा पूरे का पूरा दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है और हम सदा भौतिक सुखों के प्रतिरूप (embodiment) हो गये हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों और भौतिक प्रलोभनों ने सम्पूर्ण मानवता को दुख और कष्टों के अनमापे हुए दलदल में घसीट कर डाल दिया है जो स्पष्ट रूप से हमको विनाश के सघन गर्त में ले जा रही हैं। ठीक ऐसे उपयुक्त समय पर (at such a crucial juncture) हमारे समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी, फतेहगढ़ पृथ्वी पर दैवीय संदेश (gleaming message of divinity) लेकर अवतरित हुए उन सभी टूटे दिल वालों तथा असहाय लोगों के लिये जिनमें अपने को उदात्तता (sublimity) और सूक्ष्मता (subtlity) की उच्चतर सतहों तक उठाने के लिये गंभीर उत्कंठा थी। उन्होंने राजयोग की पुरानी पद्धति में मौलिक परिवर्तन किये। उन्होंने इसे अत्यन्त सरल बनाया कि प्रत्येक बिना आम-जीवन की क्रियाओं में गड़बड़ किये हुये इसका अनुसरण कर सके। सम्पूर्ण मानवता में समर्थ गुरू के इस सन्देश के प्रसरण हेतु उनके परम योग्य शिष्य, 'दि डिवाइन अपोलो' महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, शाहजहानपुर ने श्री रामचन्द्र मिशन की स्थापना सन् १९४५ में की, जिसके शंखनाद ने उन सभी लोगों का स्वागत किया है जो आध्यात्मिक के उच्चतम शिखर पर अग्रसर होना चाहते हैं। शान्ति वाह्य साधनों से नहीं प्राप्त की जा सकती है, यह केवल आन्तरिक साधनों से ही मिल सकती है जिसके लिए हमें (proper course of action) कार्य करने की सही पद्धति चुनना है। इसका केवल एक मार्ग राजयोग है। सहज मार्ग का वर्तमान रूप (present system) कुछ नहीं राजयोग का केवल सुधरा और सुव्यवस्थित रूप है। जो समयानुकूल है, जो गतिशील प्राणाहुति शक्ति के साथ गम्भीर रूप से खोजने वाले को उनके संस्कारों के बन्धन (बोझ) से हलका करने में मदद करता है तथा आत्मा को प्रकाशित कर तथा महत् प्राप्ति (रियलाइजेशन) को सम्भव अत्यल्प समय में प्राप्त करने में सहायता करता है। सहज मार्ग हमारे सामने यही सन्देश प्रस्तुत करता है।

बंधन और मुक्ति

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी फतेहगढ़)

कृत्रिम भावना और कृत्रिम सम्बन्ध-स्थैर्य का विचार धर्म की भाँति मन की धारणा का एक रूप था, और मनुष्य की इच्छा शक्ति के एक ओर अथवा एक दिशा में होने का तमाशा था। अब रहा यह मामला कि भव बंधन कैसे होगा। इसका जवाब यह है कि विचार ने इस खेल को बंधन का कारण बना दिया।

काम से उपजे मन में आशा, आशा चित से धारी,
आशा मासा दृढ़ता आई, दृढ़ता मूल विकारी।
इस दृढ़ता में बंध के जी सूत कात मैं लाया,
ताना-बाना तान चलाया बंधन बीच फंसाया।
बंधन के बस तृषना बाढ़ी दुविधा दुर्मति खानी।
साँप छछूंदर की गति जैसी वैसा ही अज्ञानी।

आस न तोड़े पास न छोड़े रहै ताहि के पासा।
जहाँ आशा वहाँ बासा पावे अचरज अजब तमासा।
यह बंधन है काल की रसरी बिरला कोई लखि पावे।
'राधा स्वामी' दया करें जब मन की दुविधा जावे।

उदाहरण यह है कि नाटक के खेल में एक व्यक्ति राजा इन्द्र का स्वाँग बन कर आया। खेल २ में हृदय के दृढ़ विचार के कारण वह अपने आप को राजा इन्द्र समझ बैठा और नाटक के समाप्त होने पर भी यह विचार उसके दिल में जमा रहा। लोग उस पर हँसते रहे, समझते रहे। लेकिन वह कब मानने लगा परिणाम दुख हुआ हसी मजाक व्यंग और मखौल का निशान बना। दूसरा उदाहरण यह है कि स्वप्न में किसी व्यक्ति को किसी कारण ऐसा विचार आया कि मैं बीमार हूँ और यह विचार इस तरह जकड़ गया कि जागने पर भी उसको बीमारी का विचार बना रहा। अब जागने और सोने

में उसे यही भ्रम है। चाहे वह देखने में स्वस्थ अवश्य मालूम होता है, किन्तु वह मानता कब है। और अनावश्यक दुखी रहता है। यह बंधन का दूसरा उदाहरण है। और उदारहरण लीजिए किसी आदमी को भूत का भ्रम हो गया अंधेरी रात में उसने पेड़ का ठूंठ देखा समझा भूत आ गया उसकी विचार शक्ति ने ठूंठ को लम्बे दाँत वाला बताया। डर गया। डर कर भागा। गिरा और बेहोश हो गया। होश आने पर और आंख खोलने पर भूत का भ्रम उसके सर पर सवार है। और वह अनाप शनाप बकता और पागलों की भाँति घूमता फिरता है। और दुखी है। जब एक भ्रम जन्य विचार मनुष्य को इस तरह परेशान कर देता है तो उसके बंधन में आ जाता है और दुख पाता है। यह दुनिया भ्रम जन्य विचार का स्थान है। यहाँ हजारों प्रकार के भ्रम का कारबार होता रहता है। यदि मनुष्य उसके जाल में फंसकर दुखी न हो तो और क्या हो ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र भ्रम जन्य विचार है ग्रहस्थी, वानप्रस्थी, सन्यास भ्रम जन्य विचार है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी भ्रम जन्य विचार है। धर्म, परम्परा, सम्प्रदाय, पन्थ यह सब भ्रम जन्य विचार है। और इन्हीं में फसे हुए लोग बंधन से जकड़े हुए ऐसे परेशान हो रहे हैं कि वास्तविकता उनकी समझ में नहीं आती। यह सब बंधन वास्तविक नहीं हैं सबके सब कृत्रिम, भ्रमात्मक, विचार-सम्बन्धी और काल्पनिक है इनका क्रम बहुत दूर तक गया है यहाँ तक कि मरने के बाद भी वह परलोक में भी बना रहता है।

यदि यह बंधन समझ में आ जावे और दुख सुख के अनभव कर लेने के बाद चित्त में उपरान् अर्थात उनकी ओर से घृणा पैदा हो जावे तो जैसे दुनिया में बंधे हुए बहुत हैं वैसे ही छूटे हुए मुक्त भी कम नहीं है। ऐसे लोग तुरन्त ही इच्छा पैदा होते ही समझाने बुझाने के लिए आ खड़े होते हैं। इनको ज्ञानी तथा पहुंचे लोग कहते हैं यह उन बधे हुओं को अपने उपायों और उपदेशों से मुक्ति दिलवा देते है इनका अस्तित्व (बरकत) का कारण है ऐसे मुमुक्ष अर्थात मोक्ष की इच्छा वाले कहलाते हैं, यह उच्च कोटि के अधिकारी होते हैं। किन्तु ऐसे आदमी जो बंधन ही को प्यार करते हैं यह ईश्वर के बंदे जिद्दी और हठी होते हैं यह बंधन को नहीं तोड़ना चाहते केवल दुख से बचना चाहते हैं यह उनका अधिकार है। उनकी बीमारी के हकीम बहुधा धर्मों के प्रवर्त्तक होते हैं। जिन्हों ने भ्रम का इलाज दूसरे भ्रम से करके बहुतों को धीरे धीरे छुटकारा दिलाया है और दिला देते हैं। तीसरे प्रकार के अधिकारी

इनसे भी खराब होते हैं वह जानते बूझते हैं कि रीति-रिवाज विशिष्ट धर्म और परम्परायें बुरे बंधन हैं किन्तु सुधार के दुश्मन होते हैं। इनको मुक्त करने वाले जरा तबियत के सख्त होते हैं सख्ती से काम लेकर विश्वासों आदि का उलट फेरकर देते हैं। भ्रम जन्य विचार की जड़ क्रूरता और जुल्म के साथ खोदते हैं। यह दिल के नेक होते हैं किन्तु जब कोई और उपाय नहीं सूझता तो विवश हो कर सख्ती से काम लेना शुरू कर देते हैं।

चौथे आजाद करने वाले संत और फकीर कहलाते हैं जिनका अस्तित्व लगभग हर धर्म और सम्प्रदाय में होता है। यह सबसे अधिक सहृदय और सहानुभूति रखने वाले तथा अच्छे दिल वाले होते हैं यह मेवे यार बना कर दिलाते हैं (कल्याण मित्र) तोड़-फोड़ खंडन और मार-धाड़ नहीं करते सलामती और शाँति से असलियत का पता देते हैं अपने सत्संग का क्रस बढ़ा कर माया-ग्रस्त लोगो को अपने सत्संग का लाभ (फैज) प्रदान करते हैं, और बिना धार्मिक या साम्प्रदायिक घृणा के इच्छा रखने वालों को उनकी ही दृष्टि से समझते बूझते हुए अपना रंग देकर सब का अपना जैसा बना लेते हैं इस प्रकार मुक्त दाताओं के अनेक समुदाय हैं। मरीज तो किसी न किसी तरह इलाज का अधिकारी अवश्य है अब रहा यह कि कोई हकीम की बात मान कर परहेज के साथ दवा खाता है और जल्द अच्छा होता है कोई कोई बीमारी नादानी से पालता है, कोई बदपरहेज है कोई हकीम की बात जानते हुए भी नहीं मानता इसलिए हकीमों की तरकीबें अलग अलग होती हैं इनमें से श्रेष्ठ कोटि के अधिकारी वह बुद्धिमान रोगी हैं जो चिकित्सक के ऊपर विश्वास रखने वाले दवा के प्रति रुचि रखने वाले परहेज का पालन करते हैं। यह आसानी से शीघ्र स्वास्थ्य लाभ कर लेते हैं। दूसरे कोटि के रोगी बात सुनते हैं किन्तु परहेज कम करते हैं उनका चिकित्सक समझा बुझा कर औसत दर्जे पर धीरे धीरे इलाज करता हुआ उन्हे स्वास्थ्य प्रदान करता है। तीसरे प्रकार के रोगी अच्छा होना तो चाहते हैं किन्तु वह बदपरहेज हद दरजे के होते है कड़वी दवा खाने से वह भागते रहते है और कभी चिकित्सक को घृणा की दृष्टि से देखते है प्रकृति उनके लिए कठोर हृदय चिकित्सक भेजती है जो उनके सीने पर चढ़ कर जबरदस्ती मुंह में दवा डालता है और उनकी कोई बात नहीं सुनता और कठोर से कठोर सख्ती क्रूरता, और जबरदस्ती के साथ इलाज करता है। और रोगी के हृदय की भावना का कुछ भी आदर नहीं करता। चौथे प्रकार के चिकित्सक संत और फकीर है जो रोगी के हमदर्द बनकर सहूलियत से इलाज करते हैं और रोगी चाहे जैसा हठी और बदमिजाज हो वह प्रेम से अपने

नियंत्रण में लाकर उन्हें आराम दिलाते है। चिकित्सा का अधिकार हर स्थिति में पूर्ति है।

मुक्ति का रंग (स्वरूप)

कष्टों से छुटकारा पाना मुक्ति है। मुक्ति अस्थायी होती है। और स्थायी भी। जब ऐसी मुक्ति हो कि फिर कभी दुख का बंधन न आये तो यह शाश्वत (स्थायी) मुक्ति है। क्या बधन शाश्वत है जो शाश्वत मुक्ति होगी? नही बंधन शाश्वत नहीं किन्तु अस्थायी हैं। यदि बंधन शाश्वत होते तो फिर फिर उनसे मुक्ति की सम्भावना न होती अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि बंधन अस्थायी हैं और शाश्वत नहीं तो मुक्ति भी अस्थायी होगी। बधन तो अस्थायी होते है किन्तु मुक्ति शाश्वत होती है।

कोई कहता है कि पत्थर की भाँति अनुभव और जाति से हीन हो जाना मुक्ति है कोई समझता है कि बूंद समुद्र में मिलकर उससे एक हो जाना मुक्ति है। कोई कहता है कि ज्योति में ज्योति मिल जाना मुक्ति है। किसी का विश्वास है कि जो ऊंचा चढ़ गया वह मुक्ति है। किन्तु इसमें से कोई बात सच नही। हृदय के सम्बन्ध का नाम बंधन है और हृदय की असम्बंधता का नाम मुक्ति है उसको त्याग भी कह सकते हैं। त्याग और वैराग को भी मुक्ति कह सकते हैं अब दोनों में अंतर सुनो जो अंतर कि त्यागी और संत में होता है सम्बन्ध में असम्बंद्धता और असम्बंधता में सम्बन्ध रखने वाले संत कहलाते हैं। यह उनकी मुक्ति है। उनका ढंग नफीयस बात (का शाधन अर्थात लगाव-अलगाव के स्तरों से (गुजरता) पार होता हुआ वास्तविक धन अर्थात लगाव जो अस्ति भोग कहलाता है। त्यागी वह है जो हर वस्तु का त्याग करता है। उनका ढंग मातृ-ऋण (नितान्त-अलगाव) के स्तरों को पार करता हुआ धन अर्थात लगाव की ओर जाता है और यह नेति कर्म है। दोनों का इच्छित लक्ष्य और आदंश एक हैं। एकमें (अस्पष्टता) वजाहत है दूसरे उससे रिक्त प्रतीत होता है। किन्तु पूर्णतयःऋण अर्थात अलगाव वह भी नहीं होगा। ऋण का ऋण कैसा इसका पूर्ण रुप तो एक अर्थहीन वस्तु है आन्तरिक रुप से वह भी धन अर्थात लगाव की ओर उद्दिष्ट रहता हैं और धन अर्थात लगावके स्वीकरण के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं ऋणात्मक विधि शुद्ध ज्ञान का मार्ग है और धनात्मक-विधि प्रेम और भक्ति का मार्ग है। जो नितान्त धनात्मक है।

मुक्ति का विषय

मुक्ति प्राप्त करने का उपाय यह है कि :—

एक जन्म गुरु भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम
जन्म तीसरे मुक्ति पर, चौथे में निज धाम।

—:o:—

एक जन्म ब्रह्मचर्य दूसरे गृहस्ती,
जन्म तीसरे वन गमन चौथे निज लोनी।

गुरु भक्ति का अर्थ केवल उपासना है कुछ दिनों प्रेम विश्वास पूर्वक गुरु का सत्संग करके सन्देहों को दूर करो फिर नाम अर्थात आंतरिक साधन अर्थात् जप आदि से कुछ दिन काम जो इसके क्रम में कुछ दिन में मुक्ति हो जावेगी। इसको जीवन मुक्त दशा कहते हैं। इसका कुछ दिन तक मजा लो, फिर असलियत के मुकाम पर स्वयंम पहुंच जाओगे। जहां से फिर लौटना नहीं होता। मुक्ति संत मत की उत्कृष्टता का आर्दश नहीं है। यह तो उपासना के क्रम में स्वयं ही प्राप्त हो जाती है। और आदत के नियम के क्रम में सत्संगी सुविधा पूर्वक जीवन मुक्त हो जाता है। उत्कृष्टता तो निज स्वरुप है जो हम में पहले ही से है। केवल भ्रम के कारण उसकी जैसी यथेच्छ समझ नहीं पैदा होती। उपासना अथवा भक्ति उसकी वजाहत (स्पष्ट) कर देती है, यह असली चीज है। जो वस्तु बंधन का कारण होता है उसके उलट देने से मुक्ति मिलती है। बंधन के कारण (तीन) हैं :— १) स्मरण (२) ध्यान (३) भजन अब इन तीनों का अभ्यास बाह्य और बाहरी वस्तुओं के साथ होता है तो उसका परिणाम जन्म होता है और जब हृदय में आन्तरिक हिदायतों के उद्देश्य के साथ उनका अभ्यास होता है तो फिर इन ऊपरी बाहरी और कम बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।(१)स्मरण का अर्थ बार-बार याद करना (२) ध्यान मात्र है खयाल का (३) भजन कहते हैं चिन्तन अर्थात लगातार ध्यान को। इन्हें गुरु की शिक्षा के अनुसार उलटो बाहर की ओर से बंदिश लग जाने और अन्दर की तरफ का पर्दा खोल दिया जावे। फिर धीरे धीरे मुक्ति की समझ भी आती जायेगी और मुक्ति मिल जायेगी।

ओइम् तत् सत्

दिनांक १२-१२-६५ को अन्नपूर्णा अनाथालय, मैसूर में श्रद्धेय श्री बाबू जी महाराज द्वारा दिया गया भाषण।

अनुवादक — विष्णु सहाय श्रीवास्तवा

हम में से बहुत से लोग मोक्ष और ईश्वर प्राप्ति हेतु अत्यन्त अभिलाषी हैं और उसे अपना पुनीत कर्तव्य भी मानते हैं। परन्तु जब हम कर्तव्य का विचार करते हैं तो हम अपने को एक प्रकार के बन्धन में जकड़ा पाते हैं। वह बन्धन क्या है? हमारा आज का स्तर सीमा-बद्धता का एक संकुचित क्षेत्र मात्र है। हमारा आज का स्तर सीमा-बद्धता का वह स्तर है जिससे हम छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकते और जिसे हम विस्तृत अनुभूति अर्थात् अनन्त सत्य तक ले जाते हैं। परन्तु यह मुख्यत: हमारे द्वारा अपनाये गये साधन और उपक्रम पर निर्भर करता है। यदि अकस्मात् हम उन साधनों में पड़ गये जिन के द्वारा हमारे बन्धनों और आवरणों में वृद्धि होती है तो निश्चित रूप से हम अनन्त सत्य की अनुभूति से कोसों दूर रहते हैं। साधन ऐसे भी हो सकते हैं जो किसी व्यक्ति की रुचि के अनुकूल हों परन्तु वे वस्तुत: गलत अथवा अनुपयुक्त हो सकते हैं और जो केवल एक उस खिलौने की भाँति होंगे जिससे किसी बच्चे को क्षणिक आनन्द तो मिल सकता है परन्तु वे ही उसके हृदय में अधिक सुख और अधिक आनन्द प्राप्त करने की कामना उत्पन्न कर सकते हैं। वे उस के अन्दर एक वह आकर्षण पैदा कर देंगे कि वह अधिक से अधिक आनन्द प्राप्त करने का इच्छुक बन जायगा। परन्तु जब तक वह इस आनन्द के आकर्षण में फंसा रहेगा उसकी प्रगति अवरुद्ध रहेगी। उसकी स्थिति एक उस कूप-मन्डूक की भान्ति बन जायेगी जिसके निकट सारा संसार उसी कुएं में निहित है परन्तु यदि हमारा वर्तमान स्तर हम में अनन्तता के उच्चतर आनन्द की चेतना प्रेरित करता है तो हम अनन्त क्षेत्र में आगे बढ़ने के विचार के प्रति जागृति हो सकते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि ज्ञान के प्रत्येक भाग के लिये कम से कम दस गुना अधिक बुद्धि की आवश्यकता है। यदि

इतनी बुद्धिमता हममें है तो निश्चय ही ध्येय हमारी दृष्टि में रहेगा और हम सत्य के क्षेत्र में अधिक से अधिक आगे बढ़ने की प्रेरणा पाते रहेंगे। परन्तु कठिनाई तो उस समय पड़ती है जब हम प्रगति हेतु अपनी ही साधन-सम्पन्नता में जकड़े रहते हैं। ऐसी दशा में मोक्ष प्राप्ति का विचार तक हम में उत्पन्न नहीं हो पाता। यह वास्तव में एक बहुत बड़े खेद की बात है। ऐसे लोग सदैव अपने ही विचारों के शिकार बने रहते हैं जो उनके अपने विचार और अभ्यास के आवरणों में निरन्तर वृद्धि करते रहते हैं। इस प्रकार से वे अपने साधनों में इतनी संकीर्णता उत्पन्न कर लेते है कि वे उस दलदल से छुटकारा प्राप्ति के साधनों को सुनने तक को तैयार नहीं होते।

इस प्रकार से प्रारम्भ में अपनाये गये साधन ही हमारे मार्ग में रोड़ा बन जाते हैं। वास्तव में मनुष्य की आत्मा की उन्नति का कोई निश्चित स्तर या सीमा नहीं है क्योंकि हमें तो अन्त में उस महा अनन्त में अपने को लय कर देना है। यदि अन्तिम लक्ष्य हमारी दृष्टि में रहे तो प्रारम्भ में अपनाये गये साधन ही हमें उस अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचायेंगे या अग्रसारित करेंगे और ईश्वर स्वयं हमें उस पथ-प्रदर्शक की प्राप्ति करायेगा जो हमें आदि शक्ति की अनुभूति कराये। इसके विपरीत यदि किसी ने स्वयं वास्तविक सत्य को पूर्ण रूपेण न समझा हो तो उसके द्वारा अपनाये गये साधन उसकी प्रगति में बन्धन का काम करेंगे। इसलिए निश्चित सफलता का एक ही साधन है और वह यह कि मनुष्य अपने में अपने ध्येय की प्राप्ति हेतु एक घोर तड़प पैदा करें और यदि उसने ऐसा कर लिया तो पथ प्रदर्शक स्वयं उसकी खोज करेगा।

जो लोग वास्तव में सत्य की झलक देखना चाहते हैं मेरी राय में उनके लिये एक ही उपाय है और वह यह कि वह लोग वह साधन अपनायें जो उसके अन्तस्तल पर प्रभाव डाल सकें। इस हेतु अपनाये गये वाह्य साधन व्यर्थ है जिसके द्वारा ध्येय की प्राप्ति असम्भव है।

वास्तविक साधनों की खोज हेतु हमें उन बातों पर विचार करना है जो सृष्टि के निर्माण का कारण बने। निश्चय ही इस हेतु एक शक्ति कार्य-शील थी। वह क्या है? वह केवल संकल्प ही था जिस में उत्पत्ति का भाव निहित था और उसके साथ ही साथ उसकी पृष्ठ भूमि में उसके पोषण और विनाश का भाव भी निहित था। वही संकल्प मनुष्य में भी अवतरित हुआ जो

उसके अस्तित्व का एक अभिन्न अंग बन गया। यदि हम अपनी उस शक्ति का उपयुक्त उपयोग करें तो हमारी समस्या का हल मिल जायगा। विचार में वही शक्ति निहित है परन्तु उसका विस्तार मानव स्तर तक ही सीमित है। ज्यों-ज्यों हमारा विकास होता है यह शक्ति में परिणित होने लगती है और हम अपने अस्तित्व के विभिन्न स्तर और क्षेत्र निर्मित करने लगते हैं जिसमें से होकर हमें अपने ध्येय की प्राप्ति हेतु गुजरना पड़ता है। यह बन्धन आवरण बन जाते हैं जिनके कारण हम वास्तविकता ही झलक तक देखने में असमर्थ रहते हैं। ऐसी स्थिति में इन से मुक्ति हमें तभी मिल सकती है जब हमें किसी उच्चतम स्तर के पथ प्रदर्शक का सहारा मिले जिसकी सहायता से हम अपने इन बन्धनों को तोड़कर अनन्त सत्य की प्राप्ति के मार्ग को सरल और सुगम बना सकें। हमारे अपने चक्र ग्रन्थियां तथा उप ग्रन्थियाँ आदि प्रारम्भ में हमारी उन्नति में रोड़ा अटकाते हैं जिनमें से होकर हमें सत्य की प्राप्ति हेतु गुजरना है। इसके अतिरिक्त हमारे गलत विचार और अभ्यास भी अनेक जटिलतायें उत्पन्न कर देते हैं जिसको हमें आत्मशुद्धि (cleanig) की युक्ति से दूर करना है।

संक्षेप में उस मालिक का सहारा नितान्त आवश्यक है जिस ने स्वयं कुल यात्रा कर ली हो और अपने में उस ईश्वरीय शक्ति का संचार कर लिया हो। केवल ऐसी स्थिति में ही ईश्वरीय केन्द्र की दिव्य शक्ति अभ्यासी में संचारित होने लगती है। यह सूक्ष्म शक्ति इतनी प्रबल होती है कि उच्चतर स्थितियों में इस के प्रवाह की प्रबलता में टिक सकने में असमर्थ होने के कारण अभ्यासी नीचे लुढ़क आता है। ऐसी स्थिति में मालिक की अलौकिक शक्ति ही वह सहारा है जो अभ्यासी को उस प्रबल प्रवाह में ऊपर खींच लेती है और सत्य का अवलोकन करने में उसे सहायक होती है।

परन्तु अभ्यासी के भी कुछ कर्त्तव्य हैं। सर्व प्रथम मालिक में उसका अटूट विश्वास होना चाहिये और उसका सर्वत्र सहयोग भी नितान्त आवश्यक है। यदि वह ऐसा कर लेता है तो निश्चय ही दिन प्रति दिन जागृति चेतन में अद्भत परिवर्तन होता जायगा और साथ ही साथ चेतनाओं की उच्चतर स्थितियों में होकर उसकी यात्रा आरम्भ हो जायगी। साधारणत: चेतना तीन प्रकार की होती हैं —चेतना, उप चेतना और दिव्य चेतना। यह एक प्रकार से विस्तृत भाग कहे जा सकते हैं यद्यपि कि इनमें भी असख्य स्तर विद्यमान हैं। कर्मों के फल अथवा निम्न स्तरीय चेतना हमारे उप चेतन मन पर अपना

प्रभाव डालती है और हमारे भाग्य का निर्माण करती है। इसलिये सर्व प्रथम हमें सही विचार और सही कर्मो द्वारा निम्न स्तरीय चेतना को सुधारना है ताकि वह स्वयं एक उस शक्ति में परिवर्तित हो जाय जिसके द्वारा उप चेतन मन अधिक उत्तम स्थिति में लाया जा सके। यह स्वयं हमें दिव्य चेतना की स्थिति तक पहुंचा देगा। मेरे विचार से यदि दिव्य चेतना के शब्द को संशोधित करके दिव्य-उप-चेतना कहा जाये तो उसके अग्रिम प्रभावों को समझना सरल हो जायगा। किसी प्रकार यदि मालिक की कृपा से हम यहाँ तक पहुँच गये तो दूसरा अध्याय प्रारम्भ हो जायगा। एक उच्चतर स्थिति का दृश्य हमारी दृष्टि में आ सकेगा। उच्चतर शब्द का अर्थ केवल उन दशाओं से है जो सूक्ष्मतम दुर्लभ स्थितियाँ हैं और इस संदर्भ में आई समस्त आध्यात्मिक दशायें और क्षेत्र इसी अर्थ से सम्बन्धित हैं। संक्षेप में चेतना की विभिन्न दशायें एक दूसरे के बाद हमें त्रिगुणातीत की दशा तक और यहाँ तक कि सत्य से भी परे ले जाती हैं। मोक्ष की स्थिति उसके बाद प्रारम्भ होती है परन्तु उसके लिये बहुत ही कठिन यात्रा तय करनी पड़ती है। जब मोक्ष का प्रारम्भ हुआ तो यात्रा की सारी थकान दूर हो जाती है। हम उसके बोझ से हल्के हो जाते हैं।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हमारी यात्रा समाप्त हो गई। हम अब भी मूलाधार की ओर बढ़ते जाते हैं जहाँ अनुभूति अपना वास्तविक रूप धारण कर लेती है। रंगदार स्थितियों का दृश्य समाप्त हो जाता है और हम अनन्त सत्य के सही रूप का अवलोकन प्रारम्भ कर देते हैं। परन्तु यात्रा अब भी समाप्त नहीं हुई। अब भी कुछ बाकी हैं। मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है। उस स्थिति में यद्यपि हमारे सफर का अन्त भले ही हो गया हो परन्तु फिर भी जब तक वह भाव उपस्थित है वह स्वयं ही एक बन्धन है। ऐसी स्थिति में मालिक की सहायता ही एक मात्र वह सहारा है जो हमें उससे ऊपर ले जा सके परन्तु वह तभी सम्भव है जब हम में अपना भान भी न रहे। इस प्रकार से मैं यह अधिक उचित समझता हूँ कि लोग बजाय अपने को जानने के अपने को भूलने का प्रयत्न करें।

वास्तव में यह आत्म-समर्पण की वह स्थिति है जब मनुष्य सच्चे भक्त की भांति अपने को पूर्णतया मालिक की इच्छा पर छोड़ देता है और इस प्रकार उस की कृपा रूपी निर्मल धारा से अपने को सदैव सराबोर पाता है यह मालिक और सेवक का नाता है जिसे सदैव बनाये रखना है क्योंकि इसी

ने हमें दिव्य चेतना के उच्चतर स्तर तक पहुंचने में सहारा दिया। यही वह स्थिति है जहाँ हमारे अस्तित्व की वास्तविकता प्रकट होती है परन्तु यदि मोक्ष का विचार उपस्थित है या इस विचार का अनुभव मात्र भी है तो भी हम बन्धनों से मुक्त नहीं है। जब मोक्ष की चेतना भी समाप्त हो गई तो मनुष्य अपने को अपार आश्चर्य में खोया पायेगा जहाँ पर सत्य का भान भी नहीं रहेगा। वह यह भी अनुभव नही करेगा कि वह अनन्त से सामीप्य रक्खे है। इस दशा का अधिक सुन्दर वर्णन तभी हो सकेगा जब या तो अभ्यासी इस स्थिति में पूर्णतया लय हो जाये या अनन्त की स्थिति स्वयं उस पर पूर्ण रूपेण अवतरित हो जाये। जब सब कुछ समाप्त हो जाय तो मनुष्य अपने को शून्य पाता है। ब्रह्म में लय अवस्था प्रारम्भ हो जाती है परन्तु फिर भी हमें मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिये निरन्तर आगे बढ़ते जाना है।

मैं पूर्णतय: निर्भीक रूप से यह कह सकता हूं कि विश्व में सहज मार्ग के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग अथवा साधना ऐसी नहीं है जो मनुष्य को उसके जीवन की छोटी सी अवधि में ही ऐसी उच्चतम आध्यात्मिक उन्नति प्रदान कर सके। सहज मार्ग आज हमारे सामने यही संदेश प्रस्तुत करता है।

"राज़े-हक़"

(श्री प्रमोद शंकर 'अमर' सीतापुर)

हुए थे राम जिस युग में सभी ने था नहीं जाना,
बजाई श्याम ने मुरली मगर सबने न पहचाना।

न समझा बुद्ध को जग ने अहिंसा उनकी ठुकराई,
कि ईसा को चढ़ा सूली हँसी उनकी भी उड़वाई।

लिया अवतार मेरे राम ने घनश्याम फिर आये,
त्रिदेवों से बहुत ऊँचे स्वयं ईश्वर उतर आये।
कि आये फिर से हैं देखो सहज सा मार्ग बतलाने,
सुनाने सत्य की गीता नया युग एक फिर लाने।

न दोहराना कहानी फिर पुरानी इस दफा देखो,
बनालो अपनेजीवन को समय से अब तो कुछसीखो।

महायोगी कन्हैया थे जिन्हें कुछ चोर कहते थे,
निरा ग्वाला समझते थे बड़ा मुँहजोर कहते थे।
सिखाया ज्ञान अर्जुन को महाभारत रचा करके,
किया सब कृष्ण ने ही था मगर खुद को छुपा करके।

यहाँ भी ज्ञान मेरे श्याम ने अपना है फैलाया,
तवज्जो दी हजारों अर्जुनों को फिर से दर्शाया।

नहीं इस बार कोई युद्ध इन्होंने रचाया है,
बदल देंगे हृदय इस बार ऐसा दिल में आया है।

जमाने को बदल देंगे ये है सरकार के मन में,
है कुदरत ने इन्हें भेजा सभी कुछ भर दिया इनमें।

सवाली हूं तेरे दर का करम एक बार हो जाये,
कि हूं नाचीज मुझपे भी नजर सरकार हो जाये।

नहीं है ज्ञान जो समझूं मेरे मालिक तेरा रुतबा,
मोहब्बत है तेरी, आका, मेरी दुनियां मेरा उक़बा।

"आली री सखी 'उत्सव' को दिन आयोरी"।

लेखिका—कु० शशि टंडन

नोट :—प्रीतम=ईश्वर,

प्रियतमा=प्रीतम (ईश्वर) की सेविका

आतुरी=प्रीतम को पाने की उत्सुक)

प्रियतमा ! खोई खोई सी क्या सोच रही है। सुनते ही प्रियतमा की स्मृति चकरा गई। स्मृति विस्मृत हो गई 'प्रियतम' की याद में खो गई। तभी पुनः परिचित तथा प्रेम भरा सखी का प्रश्न सुनकर प्रियतम चौंक कर बोली :—

आतुरी ? खोई खोई सी याद आ रही है प्रीतम की।

आतुरी—'किसकी' याद ?

प्रियतमा—आपने अविस्मरणीय 'राम' के सत्संग की।

आतुरी—'सत्संग' की ?

प्रियतमा—'राम' की मधुर वाणी की, 'प्रीतम राम' की।

आतुरी—यह 'राम' कौन है ? रे सखी मुझसे छुपाती है, बता 'यह' कौन है ?

प्रियतमा—जानती नही 'मेरा प्रीतम राम'।

आतुरी—बताओ सखी। कैसा है तेरा 'प्रियतम राम'।

प्रियतमा—कैसे बताऊं अपने 'राम' की अमर कहानी।

आतुरी—कुछ तो बता री। हृदय विह्वल हुआ जा रहा है, मन आतुर है तेरे 'राम' का नाम सुनकर ऐसा लगता है जैसे मेरा भी खोया हुआ 'प्रियतम' मिल गया हो।

प्रियतमा—सचमुच 'मेरे 'बाबूजी' को नहीं जानती।

आतुरी—'राम' को तुझसे बड़ा प्रेम है ? क्यारी !

प्रियतमा—हाँ सखी ! प्रियतमा को 'प्रियतम' से या 'प्रियतम' को प्रियतमा से जैसे भी चाहे समझले। ऐसे ही समझ :—

मोहब्बत मानियो अलफाज में लाई नहीं जाती।

सखीरी ! यही ऐसी हकीकत है जो समझाई नहीं जाती॥

आतुरी—मुझे भी जल्दी से सब कुछ बता दे अपने 'राम' के विषय में बड़ा। चैन मिल रहा है, मैं भी चलूंगी तेरे 'राम' के पास।

प्रियतमा—चलेगी, जरूर चलेगी इससे अधिक मधुरमय सुअवसर कहाँ मिलेगा ?

आतुरी—कैसा सुअवसर ?

प्रियतमा—हमारे 'मिशन' का वार्षिकोत्सव महान् पर्व 'बसंतोत्सव' जो आ रहा है।

आतुरी—कैसा उत्सव ?

प्रियतमा—हमारे 'महान् विभूति लाला जी साहब' का जन्म दिन जो है।

आतुरी—यह 'लालाजी साहब' कौन हैं ?

प्रियतमा—हमारे 'प्रियतम' 'राम' के "प्रियतम" राम।

आतुरी—अच्छा ! तो उन 'महान् विभूति' का जन्मोत्सव है।

प्रियतमा—हाँ, हाँ जन्मोत्सव ही नही 'विश्वोत्सव' है फैज बरसेगा, देखती रह जाओगी हमारे 'राम' की महिमा।

आतुरी—सौभाग्य मेरी सखी ! हृदय में न जाने क्या जाग गया—इस महिमा की गरिमा को सुनकर।

प्रियतमा—मेरी प्रिय सखी ? बस केवल सौभाग्य ! दुर्भाग्य और सौभाग्य तो नरक और स्वर्ग के समान है। नरक मिला तो दुर्भाग्य, स्वर्ग मिला तो सौभाग्य। लेकिन हमे तो नरक और स्वर्ग से 'परे' कुछ मिलना है फिर नरक और स्वर्ग के दुर्भाग्य और सौभाग्य से क्या वास्ता। उस 'परे' को पाने के लिए कुछ और ही प्राप्त हुआ है जो दुर्भाग्य और सौभाग्य से परे है। इसके इसके लिए शायद कोई शब्द नहीं।

आतुरी—एक बात पूछूं बार-बार यह तू 'हमारे राम' 'हमारे राम' क्या कहती है !

प्रियतमा—बात यह है सखी कि बिना हमारे 'राम' के माने ही नही पूरे होते सब कुछ अधूरा सा प्रतीत होता है।

आतुरी —सुना है सखी ! 'प्रियतम' झिड़कियाँ भी देते हैं ।

प्रियतमा —मेरे 'प्रियतम' झिड़कियाँ नहीं देते । झिड़कियाँ कहते किसे है– मेरे प्रियतम' तो यह भी नही जानते ।

आतुरी —अच्छा तो तेरे 'प्रियतम' इतने अच्छे हैं ।

प्रियतमा —कैसे गान करू-कैसे संदेश सुनाऊं अपने 'प्रियतम' का ।

आतुरी —दिखा तो सही अपने उन निराले, अगम्य, अनोखे 'प्रियतम' को ।

प्रियतमा —अभी तो प्रेमियों को बुलावा देने गये हैं 'प्रियतम' ।

आतुरी — काहे का बुलावा ।

प्रियतमा—'उत्सव' का अपने प्रियतम के जन्म दिनका । 'उत्सव' में देखना प्रेमियों का प्रेम, स्नेह, प्यार । देख कैसी श्रेष्ठ भाग्यशीलता से भी विमुक्त है हमारे 'प्रियतम' के प्रेमी ।

आतुरी—तेरे 'प्रियतम' को इतना सब प्रेम करते हैं ।

प्रियतमा—हमारा 'प्रियतम' तो विश्व का प्यारा है । विश्व के हृदय अंचल में छुपा बैठा है 'प्रीतम राम' ।

आतुरी — मुझे तो नहीं दिखता ।

प्रियतमा —'प्रियतम' के दिये हुए चक्षुओं की ओर आपने चक्षु तो मोड़ । सब कुछ दिख जायगा सखी । सब कुछ ।

देख ! सब विकलता से इन्तजार कर रहे हैं उत्सव का, विश्वोत्सव का, उस मनोरम दृश्य का, उस अद्भुत वातावरण का साथ ही 'राम' के मिलन के दिवस का ऐसा लगता हैं 'राम चौदह वर्ष बाद आयेंगे' उत्सव पर ।

आतुरी — चौदह वर्ष हो गये तेरे 'राम' को गये ।

प्रियतमा —नही सखी ! चौदह दिन ही चौदह वर्ष के समान है ।

आतुरी—क्या इतना लम्बा दिवास प्रतीत होता है ?

प्रियतमा —अनभिज्ञ न बन आतुरी ।

'प्रियतम' को पहिचान प्रियतम को पहिचान,
सखीरी ! प्रियतम को पहिचान ।
तेरे उर में बैठे मेरे 'प्रियतम',
सखीरी ! प्रियतम को पहिचान ।

अब उत्सव बहुत निकट है । ऐसा लगता है सर्वजगत का रोम रोम 'लाला की याद' की बाट जोह रहा हो । सर्व साजो के तार मानो अभी से झंकृत हो 'राम' के स्वागत की रूपरेखा तूलिका बना रहे हों ।

आतुरी बेहद प्रसन्न है । वा तब में 'आतुरी' तू तो आतुर हो गई प्रियतम को देखने के लिए ।

प्रियतमा —उत्सव आ गया-'राम' आ गये देख महिमा गरिमा मेरे 'प्रियतम' की-'राम' को देख सखी ! 'लाला के द्वारा प्रस्फुटित सर्वजगत को देख । कैसा वातावरण है मेरे 'मिशन' का, कैसे है मेरे 'लाला जी' मेरे 'बाबूजी' । अच्छे लगे न मेरे 'प्रियतम' ।

आतुरी — सचमुच सखी जुबान नहीं जो कहूं कितने अच्छे लगे । जगत से परे जो 'अच्छा' है उतने अच्छे । सारे जन्मों को भूल गई प्रियतमा । इस शोभामय लालिमा को देखकर । धन्य है मेरा जीवन धन्य सखी ! तेरे 'प्रियतम' को पाकर ।

प्रियतमा —देख, देख और देखती रह । नेत्र कभी नहीं थकेगे इस 'अट्ट लालिमा' का अन्तर देखकर । इसकी धाराएं अपने अन्तरतम हृदय तक छू जाने दे ।

आ ही गया सुन्दर मनोरम 'उत्सव' जिसकी बाट जोह रहा था विश्व ।

मन और हमारा स्वभाव

(—बाबू जी महाराज के चरणों में !)

(लेखिका—श्रीमती सुषमा श्रीवास्तव)

मानव हृदय आज के भौतिक उथल-पुथल के कारण पतन के गर्त में गिरता जा रहा है। आज मनुष्य सम्पत्ति का स्वामी होकर भी मनुष्यत्व के गौरव से रहित हो गया है। यही कारण है कि आज उसके स्वभाव को असन्तोष, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, और अविश्वास की आँधियों ने घेर लिया है।

यदि गम्भीरता से देखा जाय तो हमें ज्ञात होगा कि मानव जाति के लिये महान् संकट उपस्थित हो गया है। स्वभाव के कारण ही व्यक्ति अच्छे और बुरे कहलाते हैं। स्वभाव से ही बड़ी से बड़ी चीजों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है। यह स्वभाव हमारे मन पर निर्भर है। मन के आदेशानुसार ही सारे काम होते हैं। उसी से हमारे स्वभाव का निर्माण होता है।

मन हमारी समस्त क्रियाशीलता का केन्द्र है। हमारे कार्यों, विचारों तथा भावों आदि सबका वह नियामक भी बन जाता है। इतना शक्तिशाली होने के साथ ही वह बहुत चंचल भी है। इसे स्वतन्त्र छोड़ देने पर वह शारीरिक चेतना के साथ मिलकर हमारी वासनाओं, आकांक्षाओं और सुखों को पूरा करने में लग जाता है। उसी में वह बुरी तरह से उलझा रहता है। यही हमारे बहुमुखी पतन का कारण बन जाता है। यही कारण है कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु कह कर मन की निन्दा भी की जाती है। मन में बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं और वे सदैव के लिये अपना आसन जमा लेती हैं। स्वभाव इस प्रकार मन का दोष भी बन जाता है।

सहज मार्ग में मन तथा स्वभाव को शुद्ध करने का ढंग अत्यन्त उत्तम है। जो कुप्रवृतियाँ भौतिकता के प्रभाव से उत्पन्न हो जाती हैं, उन्हें आध्यात्मिक उन्नति के लिये दूर करना परमावश्यक है। वह सहज ढंग "ध्यान" का है। इससे मन की क्रिया-कलापों का संयमन होता है। ध्यान का अभ्यास बढ़ने पर हमें शांति का अनुभव होने लगता है। ध्यान से ही हमारे स्वभाव में दिव्य गुण अवतरित होने लगते हैं। इससे हमारा ईश्वर से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। गुरू कृपा से मन पाप से मुक्त रहने लगता है। मनुष्य के अन्दर सोई हुई दिव्य सौंदर्यानुभूति इस साधना द्वारा जाग्रत हो जाती है।

सहज मार्ग की साधना वस्तुतः मन की साधना है। इससे स्वभाव में शीघ्र ही परिवर्तन होता है और प्राकृतिक गुण आने लगते हैं। वाणी में मधुरता मालूम होने लगती है। हमारे व्यवहार का रूप बदल जाता है।

स्वभाव के सुधार का अर्थ केवल यह नहीं कि हम बुरे कर्मों या बुरे विचारों से दूर रहें। बुराई से बचना, अच्छे कामों की ओर अग्रसर होना, सबसे प्रेम और सहानुभूति रखना सुधार के परम लक्षण हैं। इसके बिना आध्यात्मिक मार्ग में पग आगे नहीं बढ़ सकता। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी बातें हैं। स्वभाव के सुधार का वास्तविक अर्थ यह है कि जहां पर जैसी आवश्यकता हो अपना करे किन्तु मन प्रभाव से मुक्त रहे। किसी की बात का अपने ऊपर असर न आने दे। स्वभाव के सुधार से यही अभिप्राय है कि प्रकृति से समानता हो जाय। परन्तु यह बात तभी संभव है, जब इसके लिये ऐसे साधन काम में लाये जाये जो स्वभाव में संतुलन स्थापित करने में सहायक हों।

साधना

(श्री काशी राम अग्रवाल, शाहजहाँपुर)

जीवन के लिए आध्यात्मिकता की कितनी आवश्यकता है यह तो विचार करने से ही पता चल सकता है, और उसकी पूर्ति सिवाय साधन, अभ्यास के और कोई उपाय से नहीं हो सकती। साधना वह काफी नही है जो अधिकतर लोग करते आ रहे हैं। यह प्रत्यक्ष देखने में भी आ रहा है कि वह पूजा जो अधिकतर लोग करते आ रहे है, वह मन के संतोष के अतिरिक्त हमें और लाभ नहीं दे पाती। स्वभाव आदि में कोई परिवर्तन नहीं आता तो हमें कोई लाभ नहीं हो सकता। जितनी पूजायें बढ़ती जा रही हैं, बेईमानी उससे आगे बढ़ती जा रही है। इससे सिद्ध होता है कि पूजा का ढंग सही नही है उसे सुधारना ही होगा।

जब कभी आध्यात्मिक विषय पर मित्रों से चर्चाएं चल पड़ती हैं तो अक्सर लोग कहने लगते हैं, यह सब तो बुढ़ापे के लिए ही है, अभी तो हमें यह करना है, और वह करना है, हमारे व्यापार को कौन सम्भालेगा, हमारे बच्चों को जुम्मेदारी से कौन देखेगा, मैं तो एक घन्टा पाट-वाठ कर ही लेता हूँ। यह भाई अभी तक पूजा के अर्थ भी न समझ सके, और इन्हें बताने वाले ने भी, न जाने पूजा के क्या क्या अर्थ पढ़ाये हैं। साधना की बात हो रही है, उन्हें कोई लगोंटी बान्ध कर ब्रह्म पुत्र नदी में कूदने के लिए नही कहता सम्भव है किनारा हाथ लग पाय या न लग पाये बीच में ही डूब जाय और वापिस आने की आशा ही न रहे, अन्यथा यह प्रश्न ही नही उठता कि बच्चों को कौन सम्भालेगा, जुम्मेदारी कौन देखेगा। रही बात बुढ़ापे में करने की तो मेरी समझ में यह नहीं आता जब भगवान को बुढ़ापे में ही याद किया जाता है और पूजा, अभ्यास की अभी जरूरत नही समझते तो जब मुसीबत आ पड़ती है, चारों तरफ से जो सहारा लोगों से चाहते हैं वह नही मिलता और निराश होकर रह जाते हैं तब उसे उसी का सहारा नजर आता है, गला भर जाता है। आखें बहने लगती हैं हाल बेहाल हो जाता है, तब कहता है,

हे ईश्वर एक तेरा ही सहारा है, और वह उस की प्राप्ति के साधन ढूढ़ने लगता है, तड़फ पैदा हो जाती है उसको पाने के लिये बेचैन होने लगता है, महात्माओं से मिलता है और अपनी समस्या सुलझाना चाहता है। जब यह बातें बुढ़ापे की हैं तो जबानी में क्यों ऐसी आवश्यकता उसको याद करने की पड़ जाती है। ऐसा वही व्यक्ति कहते हैं जिन्होंने अपनी आत्मा को गर्द से ढ़क लिया है और जिन्दगी के उतराव चढ़ाव नहीं देखे हैं।

जब मैं मित्रों से सहज-मार्ग साधना की बात करता हूं तो उनका यही उत्तर होता है कि जो कुछ आप लोग करते हैं वह ठीक है और इतनी दुनिया मन्दिर में जाती है क्या वह सब बेवकूफ है, हाँ बेवकूफ तो नहीं है, परन्तु मुझे भी आश्चर्य अवश्य है। क्योंकि इतनी दुनिया मन्दिरों में जाती है तो इतनी दुनिया बजाय बनने के बिगड़ती क्यों जा रही है, इसीसे सिद्ध होता है कि वास्तव में वह स्वयं को धोखा दे रहे हैं और वह पिछली साधनाओं पर हैं, अब समय के साथ उसे भी बदलना अवश्यक हो गया। अगर ऐसी बात न होती तो इतने अवतार न होते और हर अवतार अपने साथ अलग-अलग रास्ता भी नही लाते, एक ही रास्ता होता, लेकिन समय-समय पर दुनिया बदली और उसी के साथ अलग अलग मार्ग के बदलने की आवश्यकता पड़ी और रास्तेबदलते आए। क्या किसी सही और गलत चीज का अन्दाजा अधिक और कम संख्या से लगाया जा सकता है अगर ऐसी बात है तो मैं उन भाइयों से पूछता हूं कि आज सौ में अट्ठानवे लोग झूठ बोलते हैं, बेईमानी करते हैं, शराब पीते हैं अगर दो ऐसा नहीं करते तो क्या यह दो गलत हैं। भाई जो चीज़कीमती होती है वह दुनिया में कम होती है और जो कम कीमती होती है वह दुनिया में अधिक होती है जैसे हीरे, मोती, जवाहरात आदि कितने कम हैं मगर कीमत क्या है ? और पहचान कितनों को है, और लोहा लक्कड़ कितना अधिक है और कीमत क्या है ? स्कूलों में ऊंचे दर्जों में लड़के कितने कम है और छोटे दर्जों में कितने अधिक हैं। खैर मैं इन बातों पर नहीं जाता, मगर हमें उसके नतीजे को अवश्य देखना है जो हम करते जा रहे है। अब आप उन लोगों से पूछिये जो अपनी जिन्दगी के ७०-८० वर्ष उसी पूजा में बिता चुके हैं, जिसे बचपन से करता आ रहे हैं, और इस ८० वर्ष तक पूजा करते रहने पर स्वयं का कितना बदला है।

अब मैं उस सहज मार्ग साधना की चर्चा करने जा रहा हूँ, जो कुछ ही समय में मनुष्य को जो भूले भटके व्यक्ति की भाँति दुख-दर्द

लिये, परेशान एक चौराहे पर खड़ा है ऐसे निराश व्यक्ति को सही रास्ता बताती हैं, और आगे बढ़ाने के लिए समय-समय पर सहारा देती है, और गृहस्थधर्म तथा आध्यात्मिकता दोनों को साथ लेकर चलने की कला सिखाती है। मुझे याद हैं जब मैं आसाम में था तो मैंने पू० बाबूजी, द्वारा लिखित Reality at Dawn, पुस्तक को हिन्दी में छपवाने के लिए पू० बाबूजी, को लिखा तो मुझे उत्तर यही मिला कि भाई यह भी एक पाप है कि तुम उन बच्चों का हक छीन कर एक किताब की छपाई में लगा दो, तुम्हारे पास आमदनी का जो जरिया है वह मैं जानता हूं तुम्हें ऐसा करने की मैं आज्ञा नही दे सकता, इसलिए कि एक हजार रु० जो पुस्तक छपवाने में खर्च करोगे तो तुम्हारे जुम्में जो बच्चों की पढ़ाई का, रहन-सहन, खान-पान उनकी उन्नति आदि का प्रबन्ध लगा है उन सब में बाधा पड़ेगी और वह बाधा डालना गृहस्थधर्म के नियम के खिलाफ है। अब आप सोचें कि क्या आज के महात्मा लोग इस प्रकार दोनों तरफ देखकर चलते हैं बल्कि यही कहेंगे बेटा धर्म में लगाओ चाहे बच्चों की पढ़ाई व खाने पीने के लिए कितने ही कष्ट क्यों न उठाने पड़ें, मगर सहज मार्ग आपको ऐसा नहीं करने देता, क्योंकि वह दोनों तरफ देखकरचलता है। और जैसे अन्य पूजाओं में उन्हे चाहे लाभ हो चाहे न हो संतोष कर लेता है और साथ-साथ यह शिकायत भी रहती है कि जीवन में चैन नहीं शांति नही, मन बड़ा चंचल है, बहुत दुखी हूं गृहस्थी के पचड़े में फंसा हूं आदि आदि! मगर सहज मार्ग गृहस्थी को पचड़ा नही समझता और न उपदेश ही देता हैं कि झूठ मत बोलो, पाप मत करो इत्यादि इसलिए कि अगर कहने मात्र से ही यह सभी गुण हम में आ जाते तो आज संसार का यह हाल न होता, सहज-मार्ग साधना आपको साधन करने पर जोर देती है और उपदेशों पर विश्वास नहीं करती और वही बतलाये गये उपदेश जो अभी तक पूरी जिन्दगी में भी हमारे जीवन में न उतर सके, वह सभी गुण स्वयं इस साधना से जीवन में उतरने लगते है और हम अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ने लगते है, और सहज-मार्ग साधना में पथ पदर्शक समय-समय पर अभ्यासी को देखता रहता है और अपनी प्राणाहुति शक्ति द्वारा उसको आगे बढ़ाने में मदद देता जाता है।

मैं बहुत से ऐसे भाइयों को जानता हूं जिन्होंने बचपन से पूजायें शुरू की और आज जीवन का दीपक बुझने की कोशिश पर खड़े है, न जाने यह टिमटिमाता दीपक कब बुझ जाय, मगर जो आदत बेइमानी या मिलावट करने की थी वह आज भी है। जहां से चलना आरम्भ किया था अब इस

उम्र में भी उसी जगह खड़े हैं, तो बताइये वह सभी समय आपका बेकार नहीं गया तो क्या काम आया। मैं अन्य पूजाओं के बारे में यह नहीं कह सकता कि गलत हैं, मगर वह सभी समय के साथ थी, पहले ठीक हो सकती थी, मगर आज नहीं। दूसरे यह भी है कि जो कुछ करते हैं उसको समझने की चेष्टा भी नहीं करते और बे समझे उसको यह समझकर करने लगते हैं कि यह सभी लोग करते हैं, हमारे बाप, दादे करते आये हैं। लोग बे समझे कैसे करते हैं इस को मैं बतलाने जा रहा हूँ। मैं जब मन्दिरों में जाता था तो सभी लोग चन्दन घिसते जाते थे और मुंह से राम नाम गुनगुनाते जाते थे, मगर मन का पता ही नहीं था कि ग्राहक के पड़े झगड़े में या व्यापार में अचानक आ गये मन्दे के नुकसान की उधेड़ बुन में पड़ा-पड़ा क्या-क्या सोच रहा था, लोग चन्दन घिसते कर मस्तक पर बड़े सुन्दर ढंग से लगाते थे। मानो कोई मस्तक पर डिजाइन बना रहे हों, मैं खड़ा-खड़ा यह सोचता था कि चन्दन लगाने से ईश्वर कैसे मिल सकता है, इस का मन से क्या सम्बन्ध है। जब मैंने एक भक्त जी से पूछा कि चन्दन और मन का क्या सम्बन्ध है, मैं भी लगाना चाहता हूँ। मेरी भी बड़ी इच्छा थी चन्दन लगाने की मगर तबियत हट जाती थी, जब देखता था कि जो व्यक्ति चन्दन तो लगाते हैं, मगर दुकान में जाकर बेईमानी, मिलावट आदि खूब करते हैं और झूठ भी खूब लम्बी चौड़ी बोलते हैं। मेरी समझ में कुछ नहीं आया और विश्वास भी नहीं होता था, तो भक्त जी ने यही उत्तर दिया, नारायण! अच्छा होता है, ईश्वर खुश होते हैं लगाने से, जीवन सुधरता है, मैं चुप रह गया और सोचता रह गया, जब ६० वर्ष तक इस भक्त जी ने चन्दन लगाया अब तक जीवन कुछ भी न सुधरा तो क्या भगवान के घर जाने पर सुधरेगा। इस चन्दन लगाने की बात को बहुत से चन्दन लगाने वालों से पूछा मगर सभी ने यही उत्तर दिया जो भक्त जी ने दिया था, लोग लगाते तो अवश्य हैं, मगर चन्दन लगाने की प्रथा क्यों चलाई गई, क्या लाभ होता है कोई नहीं जानता। एक रोज एक स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तक पढ़ रहा था—उसमें चन्दन का महत्व भी लिखा था हमारे शरीर में सत्तर हजार नाड़ियां होती हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—ईड़ा, पिंगला और सुषुम्ना, इनका जहां-जहां छोटी नाड़ियों से सम्बन्ध है जुड़ता है ठीक उन्हीं स्थानों पर चन्दन लगाया जाय तो सभी नाड़ियों में ठंडक पहुंचती हैं—नाड़ी मजबूत होती है, उन नाड़ियों का सम्बन्ध मस्तक में भी है जहाँ त्रिकुटी है, अब आप सोचिये लोग तो अन्दाज से चन्दन लपेट लेते हैं। कहां लगाना चाहिए। यह किसी को भी पता नहीं, मस्तक में जहाँ त्रिकुटी है वहीं ठीक निशान पर

लगाने से लाभ होता है। और वह स्वास्थ्य के लिए लाभ-प्रद होने के कारण इसे धर्म का रूप दिया गया —जब जानकारी नहीं तो करने से लाभ क्या ? परन्तु करने से पहले यह देख लेना चाहिये कि जो कुछ कर रहे हैं वह ठीक है या नहीं। लाभ होता है या नहीं। अगर लाभ नहीं होता तो नुकसान क्या होता है -- अब आप सोचिये जहाँ नाड़ियों का आपस में सम्बन्ध जुड़ता है वहाँ नहीं लगेगा तो चन्दन का तो नुकसान होता ही है। मुझे यही आश्चर्य है जब लाभ नहीं होता तो उसे किये क्यों जाते हैं। माना कि आज शास्त्री जी ने गेहूँ के अभाव के कारण गेहूं हफ्ते में एक बार न खाने की प्रथा चलाई और हफ्ते में एक बार होटल आदि बन्द रखने का आदेश दिया और इसी प्रकार के अनेकों प्रतिबन्ध लगाये हैं। जब हमारे देश में खपत से भी अधिक गेहूं होने लगे तो क्या हमारी यह अक्लमंदी है कि हम उसी नियम को लेकर चलें और उसे यह न सोचे कि वह क्या समय था क्यों उस समय ऐसे नियम लगाये गये और आज क्यों उन नियमों की आवश्यकता न रही और अब समय क्या है, मनुष्य की क्या-क्या समस्यायें हैं उन्हीं को ध्यान में रखते हुये ही नये नियम बनाये जाते हैं। मैं पूछता हूं पहले लोग बैलगाड़ी पर चलते थे, आज क्यों ट्रेन,मोटर और हवाई जहाज पर चलते हैं।

सहज-मार्ग साधना में गृहस्थ-धर्म की हर उलझी हुई समस्याओं को ध्यान में रखकर अपने अनुभव के आधार पू० लाला जी, महाराज ने एक सहज मार्ग साधन की नींव रखी जो आज आप सबके सामने है। सहज कैसे है यह तो साधना करके ही आप अनुभव कर सकते हैं।

Speech

Shri Ram Chandraji, (President)

(Delivered at Mysore in December, 1965)

There are so many amongst us who eagerly hanker after realisation and freedom and they feel it as their duty. But when we talk of duty we find ourselves enclosed within a sort of limitation. What is that limitation? It is only a narrower sphere of thought and wisdom. As for our present level it is that of finiteness which we can not get away from, and from which we proceed on to broader visions, I mean the vision of the Absolute Reality. But that depends mainly on the means and methods we apply for the purpose. If perchance we fall upon means which go on adding to our limitations and bondages, we shall definitely remain away from the vision of the Reality-absolute. There may be methods to suit the temperament of particular individuals, but which may basically be wrong or in other ways inefficient and may serve like a toy for a child to play with only to offer him a temporary lull but which may lead him further to temptations for more and more enjoyment of pleasures, and happiness. That may perhaps be the charm to induce him further on the path of happiness. But so long as he remains

held up by the charm of it his progress gets frozen. He may well be compared to a frog in the well who thinks his own narrow sphere to be the whole universe. But if our present level inspires within us a consciousness of a higher type of happiness of infinite character we may be awakened to the idea of going further into the sphere of Limitlessness. That is why they say that for every grain of knowledge the wisdom required must be atleast ten times greater. If that much of wisdom is there, the goal shall definitely be in our view and we shall be inspired more and more to proceed on into the sphere of Reality. But the difficulty arises when we remain held up by our own resourcefulness applied for our advancement. When it is so, the idea of Freedom does not even crop up in mind. That is really a sad tale of our own. Such persons ever remain a prey to their own thoughts which go on adding veils after veils in their thinking and practising. They have, so to say, fashioned themselves so rigidly into their own ways that they would never listen to the ways suggested to them for extricating themselves from the meshes.

The thing we started with in the beginning, becomes thus an impediment for our advancement on the path. In fact there can possibly be no hallmark to the advancement of the human soul, because we have finally to enter into Infinity. If however, we may be able to take into account, in some way or the other, the final approach of man, then the very thing we take up in the beginning will lead us on along the path and God will Himself present to us

a Master who can take us on to the real vision of the Immaterial Absolute. On the other hand if one has not grasped the idea of true Reality, the means or methods he takes up for the purpose shall serve for a bondage for further advancement. The only thing required for the sure success, shall therefore be intense restlessness for the attainment of the goal which shall bring the real Master to your doors.

For those who want to have at least a peep into the Reality the proper method shall, in my opinion, be that which touches the inner core of the heart. The external means usually adopted for the purpose are really of no avail and do not lead one towards the goal.

In order to discover proper methods for it we must take into account the cause which finally brought into being the entire creation. Definitely there was some power at work for the purpose. What it was ? It was only the 'Thought', 'pregnant with the idea of creation, as well as with that of preservation and dissolution in the back ground. The same thought descended down into man and became a part and parcel of his being. If we can properly utilise this power within us the mystery is solved. The Thought has the same force but within man it is limited to the extent of the human level. It develops into potentiality as we grow and takes different trends resulting in the creation of different spheres and regions for our existence, which we have all to pass through during our march towards the Goal. These, expressed as bondages, serve for veils, which do not allow us even to peep into Reality. It is only when

a worthy Master of calibre comes up to our help, that we are able to tear them off in order to make our passage to the Absolute Reality, smooth and easy. There are plexes, Centres and sub-centres which also bar our progress at earlier stages. These we have to pass through in our pursuit for Reality. Complications also arise by the effect of our wrong thinking and practising, which we have to clear off through the process of cleaning.

In short the help of the Master, who has himself travelled the entire distance and has developed in himself the Divine force, is therefore of immense value. It is then alone that the Divine force begins to flow into the Abhyasi from the Divine Centres. This subtle force is very strong, so much so that in higher regions even if an Abhyasi attempts to go up he is pushed down by the effect of the strong flow of the force. In that case it is only the Master's dynamic force that pulls him up through the flow and enables him to have a view of Reality.

But some thing is essential for the Abhyasi also. In the first place he must have a full trust upon the Master and must fully co-operate with him in every respect. If it is so he will positively go on developing day by day, and begin to feel himself changed and transformed. The state of waking consciousness, of the lower type will get transformed and his journey through higher and higher types of consciousness will be started. Usually consciousness is spoken of as of three types, conscious, sub-conscious and super-conscious. They are however the broader

divisions, though there are still innumerable levels of it in each one. The effect of the activities of the lower consciousness settles down upon the sub-conscious mind forming his fate. The first thing, to be under taken is therefore the correcting of the lower consciousness by right thinking and practising, so that it may itself be converted into force to bring the sub-conscious mind into a state of splendour. This brings us to the state of supper consciqusness. If the word superconsousness is modified as super-sub-consciousness I think it will be easier to understand its further effects. Anyhow, if by the Master's grace we have come up to it, another theme opens for us. We are in a way merged into it in order to bring to our view the aspects higher than this. The word 'Higher' refers only to a rarefied state of it and in the same sense it is applied to the spiritual regions and spheres noted down in this connection. In short the various states of consciousness, one after the other carry us along beyond Trinity and even beyond Reality. The state of Freedom commences then but it is after a good deal of tiresome journey. When Freedom dawns the fatigue of the journey is over and we do not feel ourselves encumbered with its weight.

But our travelling is not yet over. We march on still towards the Base, where the realisation assumes its original form. The colourful visions having ended, the vision of the Absolute in its true aspect commences forthwith. But the march is not over yet. There is something still which is inexplicable. The idea of freedom is also there, and so long as it is there it is a bondage still, though our journey might

have came to an end. There it is only the God's help that can take us along onwards but only when we are in a state of complete oblivion. In that sense I would therefore prefer to induce people to forget themselves instead of 'know themselves'.

It is really the state of self-surrender in which one, as a true devotee, surrenders himself completely to the will of God —The master, basking ever in the sunshine of His Grace. That is the relationship, i.e. of the Master and the devotee, which is to be maintained all through because that was the only relationt ship that had finally brought us upto that higher-mos-level of super-consciousness. It is only here that the true character of our being is revealed. But if the idea of freedom lingers still or he has a feeling of it in any way, he is not free from the shackles. When the consciousness of freedom is also gone, one finds himself lost in the maze of wonder. The idea of Reality even is not there. He feels that he is not even keeping pace with Infiniteness. The condition can better be described either as having dissolved in in toto or that the Infinity has been poured into us in toto. When every thing is dissolved, one finds himself nowhere. Absorbancy in Brahm commences, but we push on still to attain the last stage destined to a human being.

I feel bold enough to say that, besides 'Sahaj Marg' there is no other Sadhana or worship which can bring forth such top-level results in such a short time as only a part of a man' life. That is what Sahaj Marg stands for.

OM

Salutations to beloved Babuji

Speech by Sri Raghanandra Rao, Hassan, Mysore State. at the annual function of the Mission, Shahjahanpur on January. 1966.

Lives of great men all remind us
We can make our lives sublime.

Dear brothers and sisters.

Great men are not born accidentally, but their Mission is not completed easily. The great Master has given us this Mission according to the needs of time and it is for us to fulfil His Mission. We are very fortunate in taking up His work and at the same time a great responsibility has fallen upon us. The responsibility becomes even greater as the Master has given us so much freedom to think and act.

Our present form of existence is the result of the mixture of complexities, solidification, distortions and perversions in our Original Condition. When the essence disappears, the trivialities assume gigantic and monstrous forms. Therefore we have to be very careful, at every step, to see that the essence is maintained in all its purity and that even the obstructions and the impediments are transformed into guiding stars and stepping stones for our upward march, by the effect of the Light of this Essence.-

Dear brothers, your Mission is a unique one. Everyone is welcomed here. But once when you adopt

this as your own you feel like disowning everything else. That will be a crucial juncture. You have to decide once for all which is the best. Temptations for compromise are various and very strong too. But a compromise with a falsehood or with an unworthy thing on equal terms will be fatal to Spirituality and Reality. Hypocritic humility is as false and harmful as fanaticism and bigotry.

We are doubly fortunate in having the Master living amongst us and guiding us. He has laid firm foundation for our Mission. He has left it for us to complete the task of building it up. As this is going to be the most precious one and is intended to be everlasting, it becomes our duty to use the right things in the right manner at the right places. Any introduction of lower grade or improper things will harm our work. Therefore please get your things throughly tested and checked up by the Master by opening up all your bundles to Him. Never hesitate to throw off the things if they fail to shine in His light, however glittering they might have appeared to you in the darkness. By such throwing away alone you can become light and unburdened.

Our path is neither an ascetic's denial of this world nor the materialist's denial of the other world. Both the worlds,— in fact all the worlds—are in our view, yet we wish to have only the Master of all the worlds. He alone is our goal; and whatever things of the worlds we feel we are possessing, should be for His sake only. Therefore, dear brothers, show to the world that you are having the Master, the Master of all the worlds,

with you and in you. Leave off weeping and crying to have or not to have some silly things or others which have been told to you by others to be had or not to be had. Rise above these silly things of the silly worlds. Have only the Master in your view. Merge yourself in Him in toto; or else, love Him to such an extent as to convert yourself into His beloved. Then you can have Him in full.

People are gradually attracted towards our Mission. A time will come when the whole world will look up to Sahaj Marg for guidance and light. Under such conditions, you have to prepare yourself for the great task ahead. A member of our Mission was once asked, "What are the ten commondments of Sahaj Marg?" He began to search for the leaflet! How I wish he had replied, "See me and find out"! I wish every member of our Mission to become the embodiment of Sahaj Marg and to be a true and faithful representative of the Great Master and His Mission.

I take this opportunity to put in a few words of warning also. The perversion in the values has been the main cause of the degradation and degeneration of many a noble Sanstha. The zeal to increase the number of members, the enthusiam to collect more and more funds, or the desire to put out a charming show should never cloud the Light of the Essence. Of course we require more and more associates, funds and charm and all that; but all these should be for the sake of realising Him alone. No trace of selfishness, selfaggrandisement or the idea of gratification of senses should enter our being. Then alone the purity of our system can be

effectively maintained and there shall be no fear of degradation or degeneration.

Our Sanstha will be perfect when every member of it becomes perfect. And every brother can become perfect when he constantly keeps in view the Perfect Presonality who is ever present in his heart. Complete submission to the Master makes one fully receptive to the transmission of Master. Worship of the only one real Master helps to erase all other impressions from the heart. To consider all people of the world as your own makes you realise the Common Origin or the Ultimate Source. To give away to everyone his fair dues relieves you of the heavy and binding burden. To think always about the welfare of your great Mission keeps you in eternal contact with the Founder of the Mission. Thus alone we can attain perfection individually as well as socially. Any trace of unsocial tendency must be rooted out of over being completely.

I pray to Master to give us all the strength and courage to live up to His expectations and to infuse us with Himself to carry out His work fully and effectively.

May Master live amidst us for ever. Amen

MAN'S PROBLEM

(by Sri Ishwar Sahai)

Man is by nature a lover of happiness and comfort and his craving for it continues all his life. His thoughts and actions ever remain located on that one thing. But inspite of all his efforts he feels that the amount of pain and sorrow he experiences in life is enormously greater than that of the joy and comfort. This causes him further worries which add to his distractions of mind all the more. Still he goes on hankering after the attainment of continued happiness and elimination of pain and sorrow, which is obviously an impossiblity. As a matter of fact joy and sorrow or comfort and pain are the things which are inseparable form each other. The one can never have its existence without the presence of the other. They are like the two poles of a magnet-bar or in other words the two ends of the same one thing. It is, however, our defective vision that creates a distinction between the two, presenting one as charming and the other as abominable. Really this is on account of our wrong understanding of their real values. One feels an inner attraction for every thing pleasing and an aversion for that which is unpleasant. This is because of the predominance in him of body-feelings and sense cravings. He remains ever after pleasing his senses in all possible ways, devoting himself entirely to the fulfilment of his desires, thinking it to be the only means of his joy and comfort. But it is also certain that desires do never have an end, for the very fulfilment of the one, promptly leads to the

creation of another or even of many others in its place. Thus one can never be free from desires even though they are fulfilled to some extent. When this is the case it is quite absurd to expect their complete fulfilment. They most finally remain unfulfilled to a great extent. Thus the cause of distraction remains ever in tact and there can never be any possibility of getting away from it.

Besides this, as we all know, a man comes into the world only to undergo the effects of his past Sanskaras. The Sanakars may be good as well as bad. The good Sanskaras bring forth happiness as their result while the bad ones, sorrow. That means we must have both at times and they are unavoidable so long as our sanskaras stand. Hence it is almost meaning less to think of being relieved of either completely till the effects of all Sanskaras have been undergone.

But then one may come up with a question about the real significance of the term 'Ananda or Paramananad' which is so highly spoken of in our sacred books as an attainment of high order. It is ofcourse exactly as they say and there can be no doubt about it. The mistake lies only in our understanding of the correct meaning of it. The word Ananda does not really mean joy or happiness in the sense we apply to the word. It is neiteer pyhsical nor mental happiness nor even of any other type in a finer form. To be more appropriate, it can not even be termed as happiness at all. In the true sense of the word, Ananda refers to the condition which is beyond the feeling of joy and sorrow or inother words free from the effect of either. Practically it is neither of the two states but only one and the same

state under both the conditions. One, being in that state is neither happy nor sorrowful, with whatever might happen to befall him. This is the actual condition which the word Ananda refers to, and when this state has got permanently settled in, it is then termed as Paramananda. But the state though attainable after sufficient spiritual, advance-ment, is by no means the end of our pursuit, as it is often wrongly proclaimed by many a pseudogurus. There is yet a good deal of journey to cover. Really it is but an elementary stage of our march towards the Infinite.

There are also some who remain hankering after visualisation of a certain imaginary form which they have presumed God to be in. This they call as 'Ishwar-darshan'. The teachers too are there who advocate this theory and induce people by false assurances. interpreting Darshan as realisation, though the absurdity of the view is clear at the very surface. This is nothing but intensive imagination which brings to our vision imaginary self-made representations of gods and dieties, just as it goes in the case of ghosts and spirits. But that being charming to idiotic mind of the worshipper he begins to feel exhalted over his supposed achievement and begins to think that his purpose is served and that there remains nothing more for him to pursue for. Further more, inorder to offer greater satisfaction to his crazy mind he begins talking and conversing with the imaginary form mentally and thus begins developing hallucination which is only a priliminary stage of madness. May god help those who hold this view.

There are still others who think shanti or peace to

be the only thing worth aspiring for. They hold Shanti to be at par with realisation. Their view is that if Shanti is achieved one does not need pursuing further for realisation. That means they hold Shanti and not Realisation as their ideal or goal. That is really a very grave mistake. Besides what they take Shanti to mean is only a state of mental rest undisturbed by reverses or a state of suspension of mind. Their purpose in having it, is only to secure relief from worries and distractions. Thus they mean to interpret peace of mind, as mere freedom from worries and distractions. That is far from the true sense which the word Shanti conveys. In its true sense the word Shanti means going above or beyond the feeling of pain or pleasure. In this state one is ever calm, composed and inwardly settled, under all circumstances and in all environments. That is no doubt a high attainment but by no means the end of the pursuit. With that ideal in view, one may however achieve peace of mind, but the realisation of God shall even then be far away from him since he never felt himself concerned with God in any way. Hence for him the attainment of God or realisation in the true sense is ever out of question and his ultimate purpose is not, served in any way.

As a matter of fact all these things, whether Ananda, Shanti or peace are only intermediary and they finally disappear before we reach the destination. What may finally be there at the point is neither peace nor Ananda nor bliss but only a state of poise or balance, which is eternal and infinite. It is really a matter of great pity to find people ignoring altogether

this basic idea and remain entangled in the charms of their sense-cravings. Almost every thing that one undertakes to do, is for the sake of some charm which he feels for it, so it is all, only enjoyment or recreation The Master has nicely expressed this idea in the follow. ing words,

> "Just as toys are a soures of enjoyment for a child, physical exercises for an atheletic, and book reading for a man of learning, similerly worship, for a worshipper, Bhakti for, a Bhakta, knoweldge, for a Gyani, miracles for as idhha and the life of solitude for an ascetic, are for mere enjoyment's sake. They bear no relation with the Reality, and it is only for recreation's sake that they are undertaken and followed."

For this reason it is necessary to keep in mind, what we are really after, or what we have finally to attain. Approach to Reality can never be possible and practicable unless one has a clear notion of that which is to be attained. But in-order to decide this point one has to take into consideration the man's problem of existenee as a whole. A man is born and after passing the period of his life he is dead and gone. Is it the final end of his existence ? Certainly not. His coming to and going from the world is subject to the Nature's law of evolution, under which birth and death or creation and dissolution follow each other in succession. Death is not therefore the final end of man. It is only a petty phase of the whole course of evolution. The process continues and after death or dissolution the

birth or the creation must come up again. It is thus clear that the man's problem of existence does not end with his death. It has an after also which covers the entire course of the man's existence in all subsquent forms. We have now to trace out a means for the solution of this problem as a whole. For that, we have first of all, to take up means by which we might be able to stop our recoming into the world. We also know that it is only our Sanskaras that bring us into the world again and again, for the purpose of undergoing their effects. Now for securing freedom from rebirth, it is therefor necessary to do away with our Sanskaras. That can be possible only when we stop their further inflow, and at the same time go on consuming the previous store by affecting their Bhoga. The inflow of sanskaras can very easily be stopped if we give up linking everything with self, thinking self to be the doer and also the enjoyer of every thing. By so doing, the self-concern vanishes and the action assumes the form of duty, leaving no impression upon the mind. No Sanskar is therefore formed. In this way the addition is stopped. Then there remains only the Bhoga of the previous Sanskaras to be undergone, which we go on with in life every moment. The help of a real Master is also of immense help in speeding up the process of Bhoga and also in reducing the intensity thereof. In course of time we are thus relieved of the effects of the Sanskaras in an easy way and in considerably shorter time. Having been relieved of the Sanskara and their effects, the causes of our recoming into the world are removed and liberation or freedom from birth and death is attained. We have thus done away with our outer-most covering of the grossest type and are free

from one of greatest impediments. But the end is yet for away, for there are yet a good many coverings af lesser and lesser grossness which we have all to dispense with one by one. Liberation is in fact the first rung of the ladder leading up to the finallevel of Reality, and which is definitely beyond Shanti, bliss, Ananda or any thing of the kind.

In the real sense realisation refers to the attainment of the attribute or property possessed by God. What it is, can be expressed only as utmost subtleness. The difference between the Jiva and the Absolute Brahm is as it may be between the two opposites. Jiva is grosser and denser like the air closest to the surface of the earth while Bramh is the subtlest like the air at the farther-most height, where its very existence amounts to nonentity. It is that last degree of subtleness which we have finally to acquire in order to establish closest synonimity, same-ness or one-ness with that last condition, the Ultimate. That is what the word Realisation actually means. Now inorder to acquire closest synonimity with that ultimate subtleness we have to develop in ourself a parallel state of subtleness after dispensing with the grosness from our being to the last possible degree. That means transformation of the human into Divine or the replacement of the human instinct by the divine instict with the former wholly merged in it. It is this alone that we aspire for and the right means for that can be the proper regulation of mind so as to bring it to state of alround poise and balance.

MAN'S QUEST FOR PEACE

by Sri Vishun Sahai Srivastava, M.A.

(Speech delivered on the Basant Utsava, 1966)

Man has ever been hankering after peace. We strive hard and hard to get it, but its defting hands always elude us. It ever remains an El Dorado for us. Our impassionate race after this mirage ever remains futile. Why? why it is so that inspite of our best efforts we are not fortunate enough to achieve what what we strive for? It is so, only because our concept of peace is wrong. We seek peace from without whereas we should seek it from within. We want to get it through happiness and materialistic prosperity, but that in itself is a wrong approach. To us happiness generally means a delight which we derive from the pleasures of life. That may give us happiness for the time being but that is not a lasting one. The other moment another desire will spring up. When satisfied, it will be followed by other ones, thus an unbreakable chain of desires will always keep us ninning after it. If they remain unfulfilled they would cause us sorrow. In this way in both the cases the outcome is the same, that is unhappiness unlesiness. When it is so, why should we persist on fulfilling them? How can we get true happiness from that which in itself is momentary? The

harder we strive to cross the unfathomable gulf of desires, the moro we find ourselves entrapped into its virulent tides. We find our life's frail canoe too weak stand the crushings of these cyclonic tides.

Now come to the other phase of the causes that tend to make us unhappy. Family problems, physical ailments and human woe are some of the troubles and pains that often remain beyond our approach to solve. We try to overcome them with all our might. We try our best to win them over. Some times we succeed and we feel happy, but sometimes inspite of our best efforts, we fail and we feel grieved and disappointed. Then we say that it is all our misfortune, we feel that God wills so and we have to bow down before His wish, but truly speaking we do not really mean what we say. Whatever we say that does not come from the very core of our hearts, nor do we take it with all seriousness with the result that we are subjected to further sorrows. At last to get rid of our troubles and pains we take recourse to some religious rites and rituals. We engage the self-posed persons to perform certain rites for us and we pay them for their labour. Is it tho right approach to the real problem? Can these things bring about any fruitful result? Can we really have peace thus? No I don't think so, because instead of finding out the real cure, we simply do lip-service and that is of no use. We have to find out the correct course of action. We have to strike at the very root of the things and only then our efforts will bear fruit. To make it more clear I will quote an instance. Suppose my small baby has fallen ill; her condition is deteriorating. What would be my reaction then? I will at once provide the best possible

medical aid and will be ready to spend whatever is required and whatever is needed. When she is cured I would be extremely happy. I will not mind the troubles and hardships caused to me on that acconut because I am attached to her and think her to be my own. Similarly, if we develop close attachment with the Master and take every thing to be from Him, outlook will change. We will be peaceful in all circumstances, beeause the Master's divine force will start dominating in us. Commondment no. 5 of our Mission indicates this very thing. Swami Vivekanand has also said that "To be spiritually minded is the real life and peace." But the very concept of spirituality, has today lost its significance. We generally take a unfortunately man of religious views to be a man of spirituality. The more he does religious deeds the more he is considered a spiritual being, but that is not correct. The word "DHARMA" has been derived from "DAA" DHATU in Sanskrit which means 'Duty. Thus religion actually means a man's duty in his private and public life, but sprituality means the establishment of a divine link between man's soul and the Almighty. In the Reality at Dawn, our Master has written: "The end of religion is the beginning of spirituality ; the end of spirituality is the beginning of Reality and the end of Reality is the Real Bliss."

In this way, we can not have perfect peace unless we dwell in the real Bliss and for that we have to raise ourselves up above the sphere of religion, because religion leads us to no spritual gains. In Mundakopanishad it is written, that "Ceremonials and sacrifices lead man round and round and not to the ultimate goal to

which an understanding of the self alone can lead." Thus it is true that religion can do no good to us. In other words, religion tends to result in the spiritual dehydration of man. So if we want to get peace, we have to seek refuge in spirituality. We have to understand and realize the self, only then we can get something, and here the religion fails. But how to realize the Self is really a grave problem. The only way to sprituality is Rajyoga. The system of our Sahaj Marg is but a refind shape of Rajyoga which forms the backbone of spirituality. Samartha Guru Mahatma Ram Chandra Ji Maharaj of Fatehgarh (U. P.) has brought about a radical change in the old system of Raj Yoga. He has made it the most easy and every one can follow it without the least disturbance in the functioning of a normal life. Rather, it paves way for a man to the Almighty and smoothens the wordly life too. Rajyog, as we find in Patanjali Yogshahtra has eight features : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान and समाधि ।

Meditation forms the seventh step of Rajyog. It means that to practice it we have to cross the preceeding six stages one by one and only then we can start practising meditation. Just imagine how much time and energy would it require ? Whether it would be possible for us to spare sufficient time for the seventh phase ? No. I don't think so.

In our system of Sahaj Marg we start with meditation, the rest follow themselves. The practice of meditation in the morning the cleaning process in the evening and the prayer at the bedtime are quite suited to our needs. We need not take various practices for

various things. We have to touch the very fountain and the off springs are automatically coloured. We start moving towards peace though we do not strive for it. We simply try to establish a link between our selves and the Almighty and peace comes of its own accord.

As a matter of fact peace of soul is the real thing that can be of any use to us. According to A.M Lorenze, a Western philosopher, 'Peace of soul means the education of the self, the control of the self and the victory of the self,' but as said above, it is not our goal. Anyhow, how to achieve it is really a problem. We, generally take physical exercises to serve the purpose. We would sit in a particular posture to read scriptures, to do Japa or Puja. Thus in order to get the inner self regulated, we adopt the practices meant for the regulation of the aoter beings. We think that they would have the desired effect on our soul, but that is not so. In the Reality at Dawn our Master has written that "Every thing casts a reflection in a form similar to its own. If a thing is subtle its reflection will also be subtle in character. While if it is gross the reflection will likewise be gross." So we have to see whether the aforesaid practices would raise us to a higher level or would drag us down to a lower one? Whether they would help us in removing the mountaineous heap of Sanskars which is the real cause of all our sufferings and sorrows or they would contribute in making an addition to it. We believe that they tend to create adverse effceteets. Suppression of creative forces in man is no solution. It requires their complete unfolding in full freedom and in a natural way for the refinement of

human nature, the enlightenment of the soul and the upliftment of the spirit. In other words the sublimation of man is the real thing for us to achieve. Our Master has prescribed a very simple remedy for the purpose. In 'Reality at Dawn' he has written that Constant Remembrance is the easiest way to achieve the goal. But people generally think it to be an impossibility. They think that constant rememberance cannot be practiced uniess we are freed from our wordly duties and responsibilities, but this again is wrong. God never desires you to escape from your duties, nor he wants you to cause troubles and hardships to those who are dependent upon you. For example take the case of a man who goes to a foreign strand leaving his mother behind, whom he loves very much. What will happen then? He will ever be cherishing a memory of hers in his mind. Can you imagine that this rememberanc ewould hinder his routine work? Will he not be able to diseharge his duties perfectly well? No, it will not be so. He would remain absorbed in her memory in spare time but in the busy hours his conscious mind will work according to the need and her memory shall persist in his sub-conscious mind. Will you say that he had lost the rememberance of his mother for any moment? No. contrary to it, his sincere longings would create similar vibrations into his mother's heart too. She would also remember him and would cherish a keen desire to see him. Similar is the case here. By practicing consant rememberance we would not be unmindful of our duties and responsibilities. We would. rather, discharge them fully well and at the same time would come in close affinity with Him, and that is not a difficult work.

In the Reality at Dawn our Master has written "Whatever we do in our daily routine of work, is in relation with some of our fellow beings, be they our children, friends, or relations. If we think that while doing a work we are really serving one or the other of the God's creatures and not our own purpose, we are all along following the path of service although we are outwardly busy without usual routine of work. We start feeling that we are not doing it for ourselves, but for our Master, rather think that our Master Himself is doing it for Himself." The result will be that our actions and tendencies will change their course. They will turn inward. Divinity will start dominating worldliness. Remembrance of everytning will merge into the remembrance of the Master. A state of forgetfulness, with full consciousness of the outer being, will start developing in us. We will find ourselves much above the layers of grossness. Peace will start reigning in us. By the grace of the Master, the flame of divinity will start buring in our hearts. It will illuminate the entire Self. Its heat will evaporate the endless retinue of our elusive earnings of the last innumerable lives. The divine effulgence will lead us to perfect peace and the enternal bliss. To express it more clearly I will repeat the lines of a poet:—

फानूस बन के जिसकी हिफाजत हवा करे,
वह शमा क्या बुझे जिसे रोशन खुदा करे।

A candle, which is protected by the wind itself, which has been lighted by the Master Himself can never extinguish. It will ever remain burning and spreading its divine glamour alround.

TEN COMMANDMENTS OF SAHAJ MARGA

1. Rise before dawn. Offer your prayer and Puja (workship) at the fixd hour, preferably before sunrise, sitting in one pose. Purity of mind and body be specially adhered to.

2. Begin your puja with a prayer for spiritual elevation, with a heart full of love and devotion.

3. Fix up your goal, which should be complete oneness with God. Rest not till the ideal is achieved.

4. Be plain and simple, to be identical with Nature.

5. Be truthful. Take miseries as Divine blessings for your own good, and be thankful.

6. Know all people as brethern and treat them as such.

7. Be not revengeful for the wrongs done by others. Take them with gratitude as heavenly gifts.

8. Be happy to eat, in constant Divine thoughts, whatever you get, with due regard to honest and pious earnings.

9. Mould your living so as to aruse a feeling of love and piety in others.

10. At bed time, feeling the presence of God, repent for the wrongs committed. Beg forgiveness in a suppliant mood, resolving not to allow repetition of the same.

Hind Press, Din Dayal Road, Naubasta, Lucknow—Phone : 23091